

## शिक्षा के समाजशास्त्रीय सिद्धांत-I

### फंक्शनलिज्म (प्रकार्यवाद)

अमन मदान

**क्या** आपकी शिक्षा व्यवस्था लोगों को मुक्ति प्रदान करती है या वह उन्हें कॉरपोरेट सेक्टर के गुलामों में तब्दील करती है? जब हम राष्ट्रवाद पढ़ते हैं तो असल में हम क्या प्रयास करते हैं? ऐसा क्यों होता है कि स्कूली पढ़ाई के खत्म होते-होते बहुत सारे विद्यार्थी हताश और दिशाहीन महसूस करने लगते हैं? इन सवालों और ऐसे ही बहुत सारे दूसरे सवालों के जवाब कुछ निश्चित अवधारणाओं पर तथा लोगों को देखने के तरीकों और इस बात पर निर्भर करते हैं कि हम अपनी जिंदगियों में किस तरह का बर्ताव कर रहे हैं। हमारी अलग-अलग मान्यताएं और रुझान हमें बिलकुल अलग-अलग जवाबों तक ले जाते हैं। उनमें से सारे जवाब समान रूप से सही नहीं होंगे और हमें कौन सा जवाब चुनना चाहिए, इसके लिए भी संघर्ष करना पड़ सकता है। हमारे उत्तरों के पीछे अलग-अलग समाजशास्त्रीय सिद्धांत हो सकते हैं और उनमें इस आशय की अलग-अलग कल्पनाएं हो सकती हैं कि सामाजिक जीवन कैसे चलता है। समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र के सिद्धांत कुछ अवधारणाओं, प्रणालियों और विचार व्यवस्थाओं का सार-संकलन करने और उनका छिद्रान्वेषण करने के तरीके होते हैं जिनसे हमें यह समझने और समझाने में मदद मिलती है कि लोग क्या और क्यों करते हैं। शिक्षा के समाजशास्त्रीय सिद्धांत यह व्यक्त करने का एक मुकम्मल और सटीक तीरका मुहैया कराते हैं कि हमारे हिसाब से शिक्षा के धरातल पर दरअसल क्या चल रहा है। मिसाल के तौर पर, फंक्शनलिस्ट (प्रकार्यवादी) सिद्धांतकार शायद यह कह सकते हैं कि शिक्षा एक समाज के लिए खुद को कायम रखने और आगे बढ़ाने का एक साधन है। इसके विपरीत मार्क्सवादी और वेबरवादी सिद्धांत इस बात पर जोर दें कि शिक्षा दरअसल ताकतवर तबकों के लिए समाज पर अपनी पकड़ बनाये रखने का एक तरीका भी बन सकती है। सिम्बॉलिक इंटरैक्शनलिस्ट सिद्धांतकार लोगों के परस्पर संबंधों पर जोर देते हुए यह कह सकते हैं कि शिक्षा के धरातल पर हम पहचान का एक बोध पैदा करने की चेष्टा करते हैं जिससे हमें दुनिया में निपटने में मदद मिलती है। इस प्रकार, आप खुद देख सकते हैं कि हमारे सामने कई तरह के समाज शास्त्रीय सिद्धांत मौजूद हैं। इनको समझने से हमें इस आशय की एक ज्यादा गहरी पकड़ हासिल होती है कि हमारे मुल्क में शिक्षा क्या कर रही है या उसे क्या करना चाहिए। ऐसे बहुत सारे विचार और इन सिद्धांतों के रुझान शिक्षा के प्रति हमारे दैनंदिन बोध का हिस्सा बन चुके हैं भले ही हम वास्तव में इसके प्रति सचेत न हों। इन सिद्धांतों की पड़ताल करके हम अपनी धारणाओं और रुझानों के प्रति और ज्यादा सचेत हो सकते हैं। ये सिद्धांत हमें भारत और शेष दुनिया में शिक्षा को समझने और देखने की बहुत ही पैनी दृष्टि भी सिखा सकते हैं। शिक्षा के विभिन्न समाजशास्त्रीय सिद्धांतों के विवेचनात्मक अध्ययन से हमें इस आशय की एक ज्यादा मुकम्मल और स्पष्ट पकड़ हासिल करने में मदद मिलेगी कि हमारी शिक्षा में क्या चल रहा है। जो कुछ हमारी शिक्षा के धरातल पर चल रहा है, उसकी एक ज्यादा साफ तस्वीर हासिल करके हम यह भी देख पाएंगे कि इसकी बजाय क्या होना चाहिए- जो चल रहा है उसी को और सींच जाना चाहिए या उसको बदलना चाहिए।

## शिक्षा की भूमिकाएं

एक अहम सवाल जो शिक्षा के बारे में पूछा जा सकता है वह कुछ यों होता है: रोजमर्रा जिंदगी के बहुत सारे बारीक विवरणों के परे बुनियादी तौर पर समाज में शिक्षा दरअसल करती क्या है?

समाजशास्त्रीय चिंतन में फंक्शनलिज्म (प्रकार्यवाद) नामक धारा ने इस सवाल का जवाब देने के लिए यह समझने का प्रयास किया है कि शिक्षा एक मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने और उसे स्थिरता प्रदान करने में अपनी भूमिका किस तरह अदा करती है। फंक्शनलिस्ट यह देखने का प्रयास करते हैं कि समाज के अलग-अलग हिस्से किस तरह “कार्य” करते हैं ताकि समाज सहज चलता रहे। उनकी मुख्य दिलचस्पी यह देखने में होती है कि शिक्षा इसमें किस तरह का योगदान देती है कि समाज अच्छी तरह चलता रहे और उसकी जरूरतें पूरी होती रहें।

प्रकार्य या फंक्शन की अवधारणा इस धारा की चारित्रिक विशिष्टता है और यह अवधारणा मूल रूप से जीव विज्ञान से ली गई है। उन्नीसवीं शताब्दी के जीव वैज्ञानिकों में यह धारणा काफी लोकप्रिय थी कि शरीर के विभिन्न अंग, जैसे कि फेफड़ा आदि बहुत महत्वपूर्ण “कार्यों” का निर्वाह करते हैं जिससे पूरा शरीर स्वस्थ रहता है। उन वैज्ञानिकों के अनुसार, इन अंगों का सर्वोपरि कार्य यह सुनिश्चित करना है कि संबंधित पशु जीवित और सक्रिय रहे। इसी सोच को सामाजिक जगत पर आरोपित करते हुए फंक्शनलिस्टों ने कहा कि शिक्षा या परिवार या धर्म आदि सामाजिक संस्थाओं की भी समाज को सक्रिय और कायम रखने में एक निश्चित भूमिका होती है। प्रत्येक समाज वयस्कों द्वारा निर्वाह की जाने वाली जटिल गतिविधियों की एक शृंखला के जरिए अस्तित्व में रहता है। अगर बच्चे उन सारी गतिविधियों को नहीं सीखते हैं तो वयस्कों के बूढ़ा होने के साथ ही समाज भी दम तोड़ने लगेगा और अगली पीढ़ी भी भूखों मर जाएगी क्योंकि उनमें से किसी के पास भी भोजन पैदा करने या अपनी देखभाल करने की क्षमता नहीं होगी। लिहाजा, शिक्षा किसी समाज के नए सदस्यों को वयस्क भूमिकाओं के लिए तैयार करने का एक साधन होती है। जैसा कि फंक्शनलिस्ट कहते हैं, समाजीकरण अथवा किसी समाज के विश्वासों, उसके तकनीकी व्यवहारों व संबंधों आदि को सीखना-आत्मसात करना उस समाज की फंक्शनल आवश्यकता होती है और शिक्षा इस बुनियादी जरूरत को पूरा करने की भूमिका निभाती है। उनके हिसाब से यह शिक्षा की मुख्य भूमिकाओं में से एक है।

भारतीय शिक्षा में हमारे बहुत सारे उद्देश्यों की पूर्ति के मामले में यह फंक्शनलिस्ट पद्धति बहुत ताकतवर रूप से सामने आती है। आजकल शिक्षा के माध्यम से कौशलों को बढ़ावा देने का बहुत शोर मचाया जा रहा है। ऐसे लोगों की समझ फंक्शनलिस्ट पद्धति के समानांतर दिखायी पड़ती है। वे भी यही कहते हैं कि हर समाज को निश्चित कौशलों व ज्ञान की आवश्यकता होती है जो स्कूलों और सहायक शिक्षा व्यवस्थाओं के जरिए मुहैया कराए जाने चाहिए। दूसरी तरफ ऐसे लोग भी हैं जो चाहते हैं कि शिक्षा विभिन्न समुदायों और वर्गों के बीच शांति व सौहार्द बहाल करने का साधन बने। यह अपेक्षा भी शिक्षा की भूमिकाओं से ही जुड़ती है। वे तमाम लोग जो यह उम्मीद रखते हैं कि शिक्षा पूरे समाज के लिए कुछ लाभदायक योगदान दे और सिर्फ हमारी स्वार्थपूर्ति और मनमानी ख्वाहिशों को पूरा करने का साधन भर न रह जाए, उन्हें फंक्शनलिस्ट दृष्टिकोण के कुछ तर्क निश्चय ही दिलचस्प मालूम पड़ेंगे। फंक्शनलिस्ट धारा में कुछ-कुछ उनके जैसे ही रूझानों की अनुगूँज सुनाई पड़ेगी। यह हमारे लिए एक अहम वजह है जिसके चलते हमें फंक्शनलिज्म का, खासतौर से उसके बारे में पेश की गई आलोचनाओं का विवेचनात्मक ढंग से मूल्यांकन करना चाहिए। इससे हमें कुछ गलतियों को पहचानने और उनसे बचने में मदद मिलेगी।

बीसवीं शताब्दी के मध्य में फंक्शनलिज्म की लोकप्रियता सातवें आसमान पर थी। एमिल दुर्खाइम (1982), ब्रॉनिस्लॉ मेलिनॉव्स्की (1961) और ए. आर. रेडक्लिफ ब्राऊन (1952) जैसे बहुत सारे चोटी के समाजशास्त्री इस धारा के प्रतिनिधि थे। शिक्षा के क्षेत्र में यह धारा विभिन्न प्रकार के स्कूलों के साझा सामाजिक प्रकार्यों को पहचानने का प्रयास करती थी। उन्होंने कहा कि शिक्षा समाजीकरण के अलावा दूसरे प्रकार्यों को भी सींचती है। बेहद सरल समाजों में शिक्षा सामाजिक विभेदीकरण का साधन भी मानी जाती थी। बहुत ही सरल समाजों में प्रत्येक व्यक्ति कमोबेश एक जैसा ही काम कर रहा था लिहाजा आपको स्कूल जैसे विशेष और पृथक संस्थान की आवश्यकता ही नहीं थी।

शिकारी-संग्राहक समाजों में बच्चे दिन-प्रतिदिन वयस्कों को काम करते हुए देखते बड़े होते थे। इस तरह वे भी उनकी तरह काम करना सीख जाते थे। नकल व अनुकरण के माध्यम से उनकी भावनाएं व प्रवृत्तियां भी वैसी ही बन जाती थीं। ऐसे समाज में यह कल्पना करना भी अजूबा होता कि कोई बैठकर किसी को सोची-समझी नसीहतें और निर्देश दिया करे। उन्हें यह बात बहुत बेतुकी मालूम पड़ती। मगर जैसे-जैसे श्रम और तकनीक अधिकाधिक परिष्कृत होते गए, चीजों को सिर्फ देख-देख कर सीखना संभव नहीं रहा। सभी समाजों में अलग-अलग तरह की भूमिकाएं सामने आईं और एक तरह के परिवारों में पैदा होने वाले बच्चों को दूसरे प्रकार के परिवारों में होने वाली गतिविधियों को देखने के अवसर मिलना भी बंद होने लगे। एक किसान के बच्चे को कभी-कभार ही यह देखने का मौका मिल सकता था कि एक लुहार कैसे काम करता है। उसे लुहार की भट्टी के पास खड़े होकर लोहे के टुकड़ों को आग में तपाकर, हथौड़े से पीट-पीटकर नई-नई शकलों में ढालते देखना चाहे कितना भी अच्छा लगता, एक किसान के बच्चे के पास खुद यह काम करके सीखने की गुंजाइश नहीं बची थी। ऐसे समाजों में बच्चों के लिए उन भूमिकाओं को सीखना आसान नहीं रह गया था जो उनके परिवार वाले उन्हें नहीं सिखा सकते थे। टेल्कॉट पार्सन्स जैसे फंक्शनलिस्टों ने कहा कि स्कूल इस तरह की सामाजिक जटिलता का मार्ग प्रशस्त करने का एक माध्यम है, वे विविध पृष्ठभूमियों के बच्चों को एक जगह इकट्ठा करके उन्हें नई सामाजिक भूमिकाएं पढ़ाते हैं। इस प्रकार, इस धारा के चिंतकों के अनुसार शिक्षा की दूसरी भूमिका है सामाजिक विभेदीकरण को कायम रखना।

सामाजिक एकजुटता बनाये रखना शिक्षा की तीसरी भूमिका बताया गया है। हर समाज बहुत सारे व्यक्तियों से मिलकर बनता है। समाज यथावत विद्यमान रहे, इसके लिए जरूरी है कि ये सभी लोग मिलकर काम करें और साथ रहें। यहां तक कि महज एक परिवार के स्तर पर भी इस स्थिति को कायम रखने के लिए विशेष प्रयासों की आवश्यकता हो सकती है। शिक्षा की एक महत्वपूर्ण भूमिका यह है कि वह लोगों में साहचर्य और एकबद्धता का एहसास पैदा करे। अत्यंत सरल समाजों में बहुत ही थोड़े लोग होते थे और वे रोज ही मिल-बैठते थे। तीज-त्याहारों और अनुष्ठानों के जरिए वे एक-दूसरे से बंधे रहते थे। मगर, जैसे-जैसे सामाजिक विभेदीकरण बढ़ा, यह स्थिति अधिकाधिक जटिल होने लगी। कई दूसरी तरह के सामाजिक भेद भी पैदा होने लगे। हो सकता है कोई समाज फतह या प्रवासन के फलस्वरूप एक साथ आ जुटे अलग-अलग समुदायों से मिलकर बना हो। संभव है कि उनमें से हर समुदाय की एक पहचान हो और वह दूसरे समुदायों के साथ दोस्ताना संबंध रखते हुए भी अपनी पहचानों को कायम रखना चाहता हो। हो सकता है कि अलग-अलग समुदायों के सदस्य समाज में भूमिकाएं भी अलग-अलग निभाते हों। फंक्शनलिस्टों के मुताबिक भूमिकाओं का यह विभेदीकरण मानव समाजों के विकास में एक महत्वपूर्ण संक्रमण था और इसने नई चुनौतियों को जन्म दिया। अगर समाज में कई समुदाय होंगे तो पूरे समाज की साझा संस्कृति कौन पढ़ाएगा। कैसे लोग वृहत्तर समुदाय का हिस्सा महसूस करेंगे? प्रत्येक समुदाय साधारण समाजीकरण के माध्यम से केवल अपनी खास संस्कृति ही पढ़ा सकता था। इस स्थिति में ऐसे निश्चित संस्थानों की जरूरत महसूस की जाने लगी जो बच्चों को विभिन्न प्रकार के ऐसे ज्ञान और व्यवहारों की शिक्षा भी दे सकें जो उनके अपने परिवार उन्हें नहीं पढ़ा सकते थे- और यह संस्था थी स्कूल।

## अतिसरलीकृत फंक्शनलिज़्म के खतरे

फंक्शनलिस्टों की एक आलोचना उनकी इस परोक्ष मान्यता के कारण रही है कि समाज में जो कुछ भी हो रहा है वह अच्छा ही है क्योंकि वह समाज की एक खास संरचना को कायम रखने में योगदान देता है। मान लीजिए, जैसा कि भारत में होता रहा है और कई इलाकों में अभी भी हो रहा है, दलितों को इस आशय की कहानियां और जनश्रुतियां सुनाई जाती हैं कि वे आज गरीब और दीन हीन हैं तो केवल इसलिए क्योंकि उन्होंने पिछले जन्म में बड़े गंभीर पाप किए थे। फंक्शनलिस्टों की दिलचपी केवल यह समझने में होगी कि ये कहानियां एक खास सामाजिक संरचना को कायम रखने में किस तरह अपना योगदान देती हैं। बहुत सारे प्रारंभिक फंक्शनलिस्ट कह सकते हैं कि यह ऐसी शिक्षा थी जो दलितों को समाज में अपनी जगह को स्वीकार करने का पाठ पढ़ाती थी। यह शिक्षा सामाजिक विभेदीकरण को कायम रखने में मददगार थी क्योंकि यह दलितों को जाति व्यवस्था पर सवाल उठाने से रोकती थी क्योंकि उन्हें विश्वास

हो जाता था कि उनकी गरीबी और उनका उत्पीड़न खुद उनके ही दोष का परिणाम है; उनकी दुर्दशा में तथाकथित ऊंची जातियों का कोई दोष नहीं है और इससे सामाजिक एकजुटता बनी रहती थी। मगर, दूसरी धाराओं के सिद्धांतकारों का कहना है कि इस तरह की व्याख्याओं के माध्यम से फंक्शनलिस्ट एक गलती कर रहे थे - वे मौजूदा समाज में विद्यमान व्यवहारों का मूल्यांकन किए बिना उनको जायज ठहराने के लिए प्रतिबद्ध थे। रॉबर्ट मर्टन (1968) जैसे कई बाद के फंक्शनलिस्ट समाजशास्त्रियों ने कहा है कि यह पूछते रहना बहुत आवश्यक है कि समाज की बुनियादी जरूरतें पूरा करने के दूसरे तरीके भी हो सकते हैं या नहीं, जोकि शायद मौजूदा तरीकों से बेहतर और ज्यादा न्यायपूर्ण हों। मिसाल के तौर पर, यदि दलितों को नियति में विश्वास के बंधन से मुक्त कर दिया जाए तो यह एक ज्यादा बेहतर रास्ता होगा; तब शायद खेतों में मजदूरी के नए और ज्यादा न्यायसंगत तरीके ढूंढने की संभावना पैदा होगी। पिछले जन्मों के पाप की कहानी केवल ऊंची जातियों के लोगों के लिए सहायक थी, दलितों के लिए नहीं।

और यह भी हो सकता है कि जो शिक्षा हमें जाति व्यवस्था में आस्था का पाठ पढ़ा रही थी उसे असल में उसके विद्यार्थी मानने की बजाय चुपचाप खारिज करते चले जा रहे हों। क्या दलितों ने वाकई उन मिथकों और दर्शनों पर विश्वास किया है जो उन्हें पढ़ाये जा रहे थे। इसकी पुष्टि करना मुश्किल है। इस बात की साक्षी भी स्वयं दलितों से नहीं बल्कि ऊंची जातियों के ही चंद लोगों की ओर से सुनने को मिलती है। बहुत मुमकिन है कि नियति और पुनर्जन्म की कहानियां सवर्णों ने सुनाई हों मगर दलित उनके झांसे में न आ पाए हों। हो सकता है कि वे भी औरों की तरह अपने हालात को सुधारने के लिए तत्पर हों, चाहे शिक्षा के माध्यम से या किसी और तरह से। ऐसे में उनके आगे न बढ़ पाने की वजह उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि नहीं बल्कि सत्ता और संपदा का अभाव रही होगी।

फंक्शनलिज्म की कुछ दूसरी कमियां भी गिनाई जाती रही हैं जिन पर हम अब बात करेंगे। यहां अपने आपको यह याद दिला देना बेहतर होगा कि तमाम समस्याओं के बावजूद समाज के लिए शिक्षा की भूमिका का विचार अभी भी एक महत्वपूर्ण विचार है। एक बुनियादी अर्थ में शिक्षा निश्चय ही समाज के संचालन में योगदान देती है, इसके बिना कोई समाज लंबे समय तक कायम नहीं रह सकता। इसकी वजह यह है कि जब एक खास पीढ़ी के लोग बूढ़े हो जाते हैं तो या तो समाज उनके साथ छीजने लगता है या उनके साथ दम तोड़ने लगता है। शिक्षा इसलिए लाजिमी है क्योंकि यह समाज का प्रजनन करती है और उसे जिंदा बनाए रखती है। उसका काम यह नहीं है कि वह समाज को ठीक वैसा ही बनाए रखे जैसा वह पिछली पीढ़ी में था बल्कि बहुधा बदलने और उसका रूपांतरण करने में भी योगदान देती है। हर अलग वैचारिक अवस्थिति जो मौजूदा दुनिया से अलग दुनिया रचना चाहती है, उसे उन सवालों से जूझना ही पड़ता है जिनसे फंक्शनलिज्म जूझता रहा है। चाहे हम एक सोशलिस्ट यूटोपिया रचना चाहते हों या एक पूंजीवादी वैश्विक बाजार बनाना चाहते हों, चाहे हम हिंदुत्व द्वारा शासित दुनिया रचना चाहते हों या इस्लाम के दबदबे की दुनिया चाहते हों या धर्मनिरपेक्ष चरित्र वाला समाज रचना चाहते हों, आखिरकार हमें उस दिशा में बढ़ने के लिए एक खास तरह की शिक्षा की जरूरत होगी ही; और तब फंक्शनलिस्ट सवाल एक बार फिर प्रासंगिक हो जाएंगे। हम इस समाज का समाजीकरण कैसे करेंगे, इस समाज में किस तरह का सामाजिक विभेदीकरण होना चाहिए, उसको कैसे जारी रखा जाए, यह वैश्विक समाज किन सूत्रों में बंधकर परस्पर जुड़ा रहेगा, वगैरह। रॉबर्ट मर्टन के सुर में सुर मिलते हुए हम यह कह सकते हैं कि फंक्शनलिज्म का महत्व यह है कि उसने हमारा ध्यान इन सवालों की ओर आकृष्ट कराया है और हमें हर क्षण इस बात के प्रति सावधान रहना चाहिए कि आज जो कुछ किया जा रहा है या जो भी शैक्षिक गतिविधि की जा रही है, जरूरी नहीं कि वह हमेशा लाभदायक और उपयोगी ही हो।

## आज के जटिल समाजों में शिक्षा की भूमिकाएं

इन एहतियातों को जेहन में रखते हुए अब हम कुछ ऐसी अवधारणाओं और प्रक्रियाओं की पड़ताल कर सकते हैं जो शिक्षा के फंक्शनलिस्ट सिद्धांतकारों ने जटिल समाजों में स्कूलों और उच्च शिक्षा के बारे में सूत्रबद्ध की हैं। इनसे हमें इस बारे में कुछ अंदाजा जरूर मिलेगा कि आज हमें भारत और दुनिया के दूसरे हिस्सों में क्या करना चाहिए। एमिल दुर्खाइम और कई दूसरे समाजशास्त्रियों ने इस बात को चिह्नित किया है कि अलग-अलग समाजों में शिक्षा का योगदान

अलग-अलग ही होगा। अब हम इस बात को समझ सकते हैं कि जटिल सामाजिक संरचनाओं के मुकाबले सरल सामाजिक संरचनाओं के लिए इसका अर्थ कितना भिन्न होगा। एक जटिल औद्योगिक समाज के प्रसंग में दुर्खाइम (1956) ने कहा था कि शिक्षा को कम से कम तीन महत्वपूर्ण भूमिकाएं अदा करनी हैं। पहली भूमिका से हम पहले ही भली-भांति परिचित हैं। यानी, शिक्षा के माध्यम से बच्चों को सामाजिक अस्तित्व के मूलभूत तत्वों से अवगत कराना। जटिल समाजों में गतिविधियों की शृंखला और बहुलता इतनी व्यापक होती है कि कोई भी परिवार अकेले अपने बच्चे को वे सारी चीजें नहीं पढ़ा सकता जो उस समाज में जीने के लिए आवश्यक होंगी। अगर कोई परिवार अकेले ही अपने बच्चों को यह पढ़ाने लगे कि डीजल इंजन कैसे चलता है और संसदीय लोकतंत्र कैसे काम करता है, टीकों का क्या महत्व होता है और साफ-सफाई की क्या भूमिका है, तो यह किसी भी परिवार के लिए एक नामुमकिन लक्ष्य बन जाएगा। लिहाजा, यह जटिल समाजों की विशिष्टता बन गया कि इस काम को अंजाम देने के लिए विशेषज्ञ शैक्षिक संस्थानों की स्थापना की जाए।

दुर्खाइम के अनुसार शिक्षा की दूसरी भूमिका ये है कि वह बच्चों को एक ऐसी संस्कृति का पाठ पढ़ाए जिससे जैविक एकजुटता या आंतरिक एकजुटता पैदा हो। जैविक एकजुटता एक ऐसी स्थिति है जिसमें विविध व्यवसायों से जुड़े समूह और सांस्कृतिक समूह आसानी से एक साथ रह सकें। जटिल समाजों में विविधता इतनी ज्यादा हो जाती है कि परिवार या व्यावसायिक अथवा अन्य प्रकार के समूह केवल अपने दम पर अपने बच्चों को जैविक एकजुटता का पाठ नहीं पढ़ा सकते। ये सारे सामाजिक समूह केवल अपने ऊपर तथा अपनी जरूरतों के ऊपर ही ध्यान केंद्रित करते रह जाते हैं। ऐसे संबंधित समूह केवल अपनी संस्कृति ही पढ़ा सकते हैं। लिहाजा, समाज को ऐसे संस्थानों की आवश्यकता पड़ी जो सामाजिक अस्तित्व की एक ज्यादा व्यापक दृष्टि प्रदान करें और ऐसे विचारों व मूल्यों की शिक्षा दें जो इस जटिल समाज को एकसूत्र में बांधने की एक जैविक एकजुटता पैदा कर सकें। दुर्खाइम के मुताबिक यह जटिल समाजों में शिक्षा की एक अहम भूमिका थी। उनका विश्वास था कि केवल राज्य ही इस या उस सामाजिक समूह के खास हितों के परे जाकर देख सकता था। लिहाजा जटिल समाजों में सरकारी स्कूलों को केंद्रीय भूमिका में आना पड़ा। केवल सरकारी स्कूल ही ऐसी तटस्थता और समावेशी दृष्टि अपना सकते थे जिसकी आधुनिक समाजों में इतनी सख्त जरूरत पैदा हो गई थी।

शिक्षा की तीसरी उपयोगिता जटिल समाजों के एक और अहम आयाम से जुड़ती है। शिक्षा से अपेक्षा की जाती थी कि वह सिर्फ समूह के कहे अनुसार चलने की बजाय हमें अपने बारे में सोचने की क्षमता भी सिखाए। जटिल समाजों में जिंदा रहने के लिए लोगों का ज्यादा व्यक्तिवादी होना जरूरी था। जटिल समाजों में पैदा होने वाली नई और पेचीदा समस्याओं को हल करने के लिए लोगों में अभिनव और नई सोच पैदा करने के लिए भी यह व्यक्तिवादी रवैया अनिवार्य था। छोटे और धीमी गति से चलने वाले समाजों में शिक्षा केवल परंपरा पर जोर देते हुए और “जो हमेशा होता आया था” उसको करते हुए भी अपना काम चला सकती थी। इसके विपरीत, तेज रफ्तार समाजों में जीने के लिए रचनात्मकता और नित नई सोच एक अनिवार्य आवश्यकता थी और यह केवल तभी संभव था जब कोई व्यक्ति अपने सामाजिक समूह के मार्गदर्शन और नसीहतों का इंतजार करते रहने की बजाय अपने बारे में भी सोचना सीखे।

विकासशील देशों में मौजूद असंख्य प्रकार के सामाजिक समूहों के संदर्भ में दुर्खाइम के विचारों की यह व्याख्या हो सकती है कि लोगों में समुदाय और राष्ट्रीय पहचान का बोध निर्मित करना शिक्षा का एक महत्वपूर्ण कार्यभार है। मगर दुर्खाइम हमें इस बात की चेतावनी भी देते हैं कि यह काम ऐसे एकात्म/मोनोलिथिक अथवा एक-सांस्कृतिक अथवा मोनोक्लचरल ढंग से अंजाम नहीं दिया जा सकता जिसमें एक ही संस्कृति को सारे सामाजिक समूहों पर थोप दिया जाता है। इसी वजह से दुर्खाइम का यह मानना था कि जटिल समाजों में धर्म यह भूमिका अदा नहीं कर सकता। इसकी बजाय शिक्षा को राष्ट्रीय पहचान का एक बोझ पैदा करना था जो देश में मौजूद सारी पहचानों को एक दूसरे में गूँथ दे। साथ ही उसे इन्डॉक्ट्रिनेशन के रास्ते से भी बचना था जिसमें प्रभुत्वशाली संस्कृति को जोर-जबर्दस्ती के जरिए और असहमति रखने वालों या दूसरी सांस्कृतिक परंपराओं से आए लोगों को अपमानित करके सिखाया जाता है। इसकी बजाय आलोचना और संवाद की संभावना को बचाए रखना, यहां तक कि उसको प्रोत्साहन देना भी जरूरी था ताकि

व्यक्तिगत भिन्नताओं को सहज समोया जा सके और फिर भी एक वृहत्तर पहचान का हिस्सा होने का बोध सींचा जा सके।

## जटिल समाजों में शिक्षा और सार्वभौमवाद

बहुत सारे फंक्शनलिस्ट चिंतक सामाजिक जीवन में सार्वभौमवाद के प्रश्न को लेकर चिंतित रहे हैं। जटिल, बड़े पैमाने के समाजों में केवल एक खास समुदाय के इर्द-गिर्द केंद्रित मूल्य-मान्यताएं और संस्कृति तमाम संभावित परिस्थितियों के लिए पर्याप्त नहीं हो सकती थीं। मान लीजिए कि किसी स्कूल के प्रिंसिपल को उनके अपने इलाके से आए या उनकी अपनी भाषा को बोलने वाले अथवा उनके धर्म को मानने वाले बच्चों पर ज्यादा ध्यान देना हो और उन्हें ज्यादा अंक देने हों तो यह स्थिति एक ऐसे बड़े स्कूल में निश्चय ही स्वीकार्य नहीं होगी जहां बहुत सारे अलग-अलग समुदायों के बच्चे आकर पढ़ते हों। ऐसा होने पर न केवल बहुत सारे बच्चों के मां-बाप शिकायतें लेकर स्कूल पर टूट पड़ेंगे बल्कि इससे अध्यापकों में भी बहुत सख्त खेमे बन जाएंगे। बहुत सारे राजनीतिक वैज्ञानिकों के साथ-साथ फंक्शनलिस्ट भी यही मानते रहे हैं कि हमें एक साझा वातावरण के रूप में एक सार्वभौम संस्कृति की आवश्यकता है जिसमें अलग-अलग समुदायों के लोग एक समान रूप से सम्मिलित महसूस करें और जहां सबके साथ एक जैसा बर्ताव हो। बहुत सारी स्थानीय संस्कृतियों को खत्म किये बिना लोगों को एक-दूसरे से जोड़ने में सक्षम एक सार्वभौम संस्कृति बहुत सारे फंक्शनलिस्टों के लिए एक महत्वपूर्ण लक्ष्य रही है हालांकि उनमें इस बात को लेकर फर्क जरूर रहा है कि स्थानीय संस्कृतियों को वे कितना सम्मान या महत्व देना चाहते हैं।

अमेरिकी समाजशास्त्री टेलकॉट पार्सन्स ने स्कूल की कक्षाओं में इन सार्वभौम संस्कृतियों के स्थान का विश्लेषण किया है। उनके तर्क का मूल बिंदु अमेरिकी स्कूलों के उनके फंक्शनलिस्ट विश्लेषण से पैदा होता है। इस विश्लेषण के बल पर उन्होंने तर्क दिया कि अमेरिकी स्कूली शिक्षा दो मुख्य भूमिकाएं अदा करती है। दूसरे फंक्शनलिस्टों की तरह उन्होंने भी कहा कि स्कूलों से बच्चों का समाजीकरण करने की उम्मीद की जा रही है। यानी वे बच्चों को ऐसी बुनियादी सांस्कृतिक क्षमताएं सिखाते हैं जो समाज में जीने के लिए आवश्यक होती हैं। इसका मतलब न केवल महत्वपूर्ण ज्ञान और व्यवहार के तौर-तरीकों से है बल्कि समाज में विभिन्न भूमिकाओं को अदा करने के लिए आवश्यक भावनात्मक और संज्ञानात्मक प्रतिबद्धताओं की शिक्षा से भी है। इस तरह, शिक्षक शिक्षा कॉलेजों में अध्यापक को न केवल अपने व्यवसाय या विषय की सामग्री को जानना व सीखना होगा बल्कि उस व्यवसाय के प्रति एक लगाव पैदा करना होगा और बच्चों के साथ उसको बांटने में गहरे संतोष का भाव महसूस करना होगा। एक अध्यापक के सही समाजीकरण के लिए इस तरह की प्रतिबद्धता को सीखना और आत्मसात करना अनिवार्य था। पार्सन्स के मुताबिक शिक्षा का दूसरा काम था समाज में अलग-अलग भूमिकाओं को अलग-अलग व्यक्तियों के बीच बांटना। यानी शिक्षा को यह तय करना था कि कौन, किसके तौर पर, अध्यापक की भूमिका के लिए सर्वोपयुक्त होगा और कौन किसी अन्य व्यवसाय के लिए उपयुक्त होगा। तत्पश्चात शिक्षा व्यवस्था उन्हें उन संबंधित दिशाओं में अपनी पढ़ाई जारी रखने के लिए भेजे।

ये ऐसे कार्यभार थे जिनकी जटिल समाजों के सभी स्कूलों और कॉलेजों से निर्वाह करने की उम्मीद की जाती थी। पार्सन्स ने बताया कि अमेरिकी स्कूलों द्वारा इन कार्यभारों की पूर्ति एक सार्वभौम सामाजिक संरचना एवं संस्कृति की आवश्यकता से जुड़ी हुई थी। उन्होंने बताया कि अमेरिकी प्रारंभिक/एलिमेंटरी स्कूल की कक्षा हमेशा एक शिक्षक के जिम्मे होती है, यह शिक्षक आमतौर पर एक महिला होती है और कक्षा में आसपास की बस्तियों में रहने वाले बच्चे होते हैं। उनके अनुसार, बच्चों के साथ अध्यापिका का संबंध प्रेमपूर्ण होता था मगर यह संबंध परिवार के भीतर बनने वाले संबंधों से गुणात्मक रूप से भिन्न था। परिवार के भीतर बच्चों की भूमिका उनकी उम्र, लिंग और भाई बहनों में उनके क्रम से तय होती थी। कहने का मतलब यह है कि उनकी भूमिकाएं मुख्य रूप से पूर्वनिर्धारित यानी एस्क्राइड होती थीं। इसके विपरीत, स्कूल में इस बात पर जोर नहीं दिया जाता था कि आप किस परिवेश में पैदा हुए हैं बल्कि इस पर जोर दिया जाता था कि आपकी उपलब्धि क्या है। बच्चों को ऐसे टास्क सौंपे जाते थे जिनको उन्हें पूरा करना होता था और उनकी स्वीकृति और लगाव इस बात पर निर्भर करता था कि उन्होंने अपने काम को कितनी अच्छी

तरह अंजाम दिया है। यह स्थिति परिवार के समीकरण से बिल्कुल उलट थी जहां प्रेम का सिर्फ एकमात्र आधार यही था कि बच्चा उस परिवार का सदस्य है।

पार्सन्स ने तर्क दिया कि इसकी वजह से स्कूल एक ऐसी जगह बन जाता है जहां बच्चे उपलब्धि के अमेरिकी सामाजिक मूल्य को पहचानते और सीखते हैं। इसके साथ ही वहां व्यक्तिवाद का सामाजिक मूल्य भी सींचा जाता है। परिवार में व्यक्तिवाद को आमतौर पर हतोत्साहित किया जाता था और सामूहिक काम को सराहना और प्रोत्साहन मिलता था। इसके विपरीत स्कूल की कक्षा में सफलता और असफलता के बीच सबसे भारी फर्क व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों पर ही आधारित होता था। व्यक्तिवाद और सार्वभौमवाद दोनों ही ऐसे सामाजिक मूल्य थे जो अमेरिकी समाज और संस्कृति का केंद्र थे। मगर बहुत सारे दूसरे समाजों के लिए वे इतने महत्वपूर्ण नहीं होंगे, खासतौर से ऐसे समाजों के लिए, जो आकार में छोटे हैं और कमोबेश एक-दूसरे की नजरों से ओझल रहने वाले छोटे-छोटे समूहों के जरिए चलते हैं।

हो सकता है कि पार्सन्स ने ऐसी कुछ समस्याओं को नजरअंदाज भी कर दिया हो जिनसे अमेरिकी स्कूल जूझ रहे थे। उनमें बहुत सारी ऐसी सामाजिक असमानताएं थीं और आज भी मौजूद हैं जो व्यवहार के धरातल पर उन सामाजिक मूल्यों को क्षीण करती हैं जो, पार्सन्स के मुताबिक, उनके समाज के लिए लाभदायक हो सकती हैं। बहरहाल पार्सन्स और इसी तरह के दूसरे फंक्शनलिस्टों के विचारों से हमें इस बारे में सोचने में मदद मिलती है कि भारत जैसे किसी देश के लिए किस तरह के स्कूल बेहतर हो सकते हैं। एक ऐसा समाज, जहां जाति, वर्ग, धर्म और जेंडर विभिन्न मनुष्यों के बीच भेदभाव और पक्षपात की बहुत मजबूत धुरियां रही हैं, वहां पार्सन्स हमें याद दिलाते हैं कि सार्वभौमवाद को शिक्षा व्यवस्था का केंद्रीय स्तंभ बनाया जाना अनिवार्य है। यहां हम विविधताओं और बहुल संस्कृतियों को सींचने और सुरक्षा प्रदान करने के महत्व को भी जोड़ दें तो बेहतर होगा। फिर भी, सार्वभौमवाद के महत्व से असहमत होना मुश्किल है यानी इस सिद्धांत से असहमत होना मुश्किल है कि समाज के केंद्रीय नियम और प्रक्रियाएं सभी पर समान रूप से लागू हों और समाज के घटक बिल्कुल अलग-थलग नहीं होने चाहिए। जाति व्यवस्था की संस्कृति अलग-अलग जातियों के वास्ते पृथक कानूनों के लिए बहुत मुश्किल पड़ती है। मगर एक बड़े स्तर का जटिल समाज तब ज्यादा बेहतर काम कर सकेगा जब उसमें मौजूद सभी अलग-अलग समुदायों पर बुनियादी सामाजिक विश्वास और मानक समान रूप से लागू हों। एक ऐसी स्कूली व्यवस्था तथा कक्षा संस्कृति रचना, जो मुख्य रूप से एस्क्राइब्ड/प्रदत्त पहचानों पर नहीं बल्कि उपलब्धि पर केंद्रित हो, वह सामाजिक एकीकरण में भारी मदद दे सकती है और हमारे देश की एकबद्धता को क्षीण करने वाले विभाजकों को दूर करने में मदद दे सकती है। मिसाल के तौर पर, अगर हम चाहते हैं कि कश्मीर या पूर्वोत्तर के युवा खुद को भारत का अभिन्न अंग महसूस करें तो यह जरूर है कि हम एक ऐसी संस्कृति रचें जिसमें दिल्ली या बंगलौर या कहीं और पढ़ने-लिखने या काम करने के लिए जाने पर इन क्षेत्रों के युवाओं को छूटा हुआ, अलग-थलग या अपनी इलाकाई पहचान के आधार पर अपमानित महसूस न करना पड़े। ऐसे सार्वभौम सामाजिक मूल्य जो भारत को रचने वाले सभी अलग-अलग सामाजिक समूहों को समाहित कर सकें, ऐसे सार्वभौम सामाजिक मूल्य जो इस बात पर जोर न दें कि, उदाहरण के लिए, केवल उत्तर भारतीय सवर्ण मूल्य-मान्यताएं ही मायने रखती हैं, ऐसे सामाजिक मानकों को हमारी स्कूली शिक्षा का आधार बनाया जाना चाहिए।

आज के दौर में सार्वभौमवाद की चुनौती को दुर्खाइम जैसे फंक्शनलिस्टों ने रेखांकित किया है। वह आगाह करते हैं कि अगर हम शिक्षा को अपने जटिल समाजों के लिए प्रासंगिक बनाना चाहते हैं तो हमें उसके माध्यम से अनिवार्य रूप से एक ऐसी संस्कृति सिखानी चाहिए जो अनेकता और प्रयोगवाद को स्वीकार करे। जो स्कूल सार्वभौमवाद को प्रोत्साहन देते हैं उन्हें यह काम इस तरह करना चाहिए कि रचनात्मकता और व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन मिले। यह काम करना शायद आसान न हो मगर ज्यादा परिष्कृत फंक्शनलिस्ट बताते हैं कि अगर हम सामाजिक एकजुटता विकसित करना चाहते हैं तो हमारी शिक्षा व्यवस्था को बहुमतवाद से दूर रहना चाहिए और इसके स्थान पर एक बहुलवादी सामाजिक संरचना का विकास करना चाहिए। यह काम एक बेहतर और ज्यादा न्यायसंगत ढंग से कैसे अंजाम दिया जाए, यही वह रचनात्मक चुनौती है जिसका हमारे पाठ्यचर्या एवं पाठ्यपुस्तक लेखकों को उत्तर ढूंढना होगा।

भारतीय शिक्षा का मार्गदर्शन करने के लिए फंक्शनलिस्टों के पास बहुत सारे उपयोगी सुझाव हैं। दूसरी तरफ फंक्शनलिस्ट पद्धति में कुछ खास तरह की सीमाएं और कमजोरियां भी हैं। इनमें से कुछ खामियों की तरफ इस लेख में इशारा किया गया है। अगले अध्याय में हम कुछ और ऐसी ही कमियों का जिक्र करेंगे। इस शृंखला के अगले लेख में हम कुछ ऐसे प्रचलित तरीकों पर ध्यान देंगे जिनके जरिए फंक्शनलिस्ट दृष्टिकोण को भारत तथा दुनिया के दूसरे भागों में लागू किया गया है और तत्पश्चात हम उनकी संभावित समस्याओं की तरफ भी ध्यान देंगे। इससे हमें शिक्षा के दूसरे संभावित समाजशास्त्रीय सिद्धांतों का महत्व समझने में मदद मिलेगी। ◆

**लेखक परिचय:** जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से एमफिल एवं पीएचडी करने के बाद एकलव्य, हौशंगाबाद के साथ लगभग 3 वर्ष तक कार्य किया। इसके उपरान्त आईआईटी, कानपुर में समाजशास्त्र का अध्यापन किया। वर्तमान में अजीम प्रेमजी यूनीवर्सिटी, बेंगलूर में समाजशास्त्र के प्रोफेसर हैं।

**संपर्क:** amman.madan@apu.edu.in

**भाषान्तर :** योगेन्द्र दत्त

## संदर्भ

Durkheim, E. (1956). *Education and Sociology*. Glencoe: The Free Press.

Durkheim, E. (1982). *The rules of sociological method: And selected texts on sociology and its method*. (S. Lukes, Ed.). London: Macmillan. (Original work published 1895)

Malinowski, B. (1961). *The functional analysis of culture*. In *A scientific theory of culture and other essays* (pp. 67-74). New York: Oxford University Press.

Merton, R. K. (1968). *Manifest and latent functions: toward the codification of functional analysis in sociology*. In *Social theory and social structure* (2nd ed., pp. 72-138). New York: Free Press.

Parsons, T. (1959). *The School Class as a Social System: Some of its Functions in American Society*. *Harvard Educational Review*, 29(4), 297-318.

Radcliffe-Brown, A. R. (1952). *On the concept of function in social science*. In *Structure and function in primitive society: essays and addresses* (pp. 178-187). Glencoe, Ill.: The Free Press. (Original work published 1935)

## अतिरिक्त रीडिंग

Feinberg, W., & Soltis, J. S. (1998). *School and society*. New York and London: Teachers College Press, Columbia University. Chapter 2 "The functionalist perspective on schooling" and Chapter 3 "Functional theory, policy and problems". Parsons, T. (2010).

सामाजिक व्यवस्था के रूप में स्कूली शिक्षा: अमेरिकी समाज में इसके कुछ प्रकार्य, *शिक्षा विमर्श*, मार्च-जून, 2010 (पृ. 75-89)